आलोचना पाठ

(दोहा)

बंदों पाँचों परम-गुरु, चौबीसों जिनराज।
करूँ शुद्ध आलोचना, शुद्धिकरन के काज ॥ १ ॥

(सखी)

सुनिये जिन अरज हमारी, हम दोष किये अति भारी ।
तिनकी अब निर्वृत्ति काज, तुम सरन लही जिनराज ॥ २ ॥

इक बे ते चउ इंद्री वा, मन-रहित सहित जे जीवा ।
तिनकी नहिं करुणा धारी, निरदइ ह्वै घात विचारी ॥ ३ ॥

समरंभ समारंभ आरंभ, मन वच तन कीने प्रारंभ ।
कृत कारित मोदन करिकैं, क्रोधादि चतुष्टय धरिकैं ॥ ४ ॥

शत आठ जु इमि भेदनतैं, अघ कीने परिछेदनतैं ।
तिनकी कहुँ कोलों कहानी, तुम जानत केवलज्ञानी ॥ ५ ॥

विपरीत एकांत विनयके, संशय अज्ञान कुनयके ।
वश होय घोर अघ कीने, वचतैं नहिं जाय कहीने ॥ ६ ॥

कुगुरूनकी सेवा कीनी, केवल अदयाकरि भीनी ।
याविधि मिथ्यात भ्रमायो, चहुँगति मधि दोष उपायो ॥ ७ ॥

हिंसा पुनि झूठ जु चोरी, पर-वनितासों दृग जोरी ।
आरंभ परिग्रह भीने, पन पाप जु या विधि कीने ॥ ८ ॥

सपरस रसना घ्राननको, दृग कान विषय-सेवनको ।
बहु करम किये मनमाने, कछु न्याय अन्याय न जाने ॥ ९ ॥

फल पंच उदंबर खाये, मधु मांस मद्य चित चाये ।
नहिं अष्ट मूलगुण धारे, कुव्यसन सेये दुखकारे ॥ १० ॥

दुइवीस अभख जिन गाये, सो भी निस दिन भुंजाये ।
कछु भेदाभेद न पायो, ज्यों त्यों करि उदर भरायो ॥ ११ ॥

अनंतानु जु बंधी जानो, प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यानो ।
संज्वलन चौकरी गुनिये, सब भेद जु षोडश गुनिये ॥ १२ ॥

परिहास अरति रति शोग, भय ग्लानि तिवेद संयोग ।
पनवीस जु भेद भये इम, इनके वश पाप किये हम । १३ ॥

निद्रावश शयन कराई, सुपने मधि दोष लगाई ।
फिर जागि विषयवन धायो, नानाविध विषफल खायो ॥ १४ ॥

आहार विहार निहारा, इनमें नहिं जतन विचारा ।
बिन देखी धरी उठाई, बिन शोधी वस्तु जु खाई ॥ १५ ॥

तब ही परमाद सतायो, बहुविधि विकलप उपजायो ।
कछु सुधि बुधि नाहिं रही है, मिथ्या मति छाय गयी है ॥ १६ ॥

मरजादा तुम ढिग लीनी, ताहूँ में दोष जु कीनी ।
भिन भिन अब कैसें कहिये, तुम ज्ञानविषैं सब पइये ॥ १७ ॥

हा हा ! मैं दुठ अपराधी, त्रस-जीवन-राशि विराधी ।
थावर की जतन न कीनी, उरमें करुना नहिं लीनी ॥ १८ ॥

पृथिवी बहु खोद कराई, महलादिक जागां चिनाई ।
बिन गाल्यों पुनि जल ढोल्यो, पंखातैं पवन विलोल्यो ॥ १९ ॥

हा हा ! मैं अदयाचारी, बहु हरित जुकाय विदारी ।
तामधि जीवन के खंदा, हम खाये धरि आनंदा ॥ २० ॥

हा हा ! परमाद बसाई, बिन देखे अगनि जलाई ।
तामधि जीव जु आये, ते हू परलोक सिधाये ॥ २१ ॥

बीध्यो अन राति पिसायो, ईंधन बिन सोधि जलायो ।
झाड़ू ले जागां बुहारी, चिंवटी आदिक जीव बिदारी ॥ २२ ॥

जल छानि जिवानी कीनी, सो हू पुनि डारि जु दीनी ।
नहिं जल-थानक पहुँचाई, किरिया बिन पाप उपाई ॥ २३ ॥

जल मल मोरिन गिरवायो, कृमिकुल बहु घात करायो ।
नदियन बिच चीर धुवाये, कोसनके जीव मराये ॥ २४ ॥

अन्नादिक शोध कराई, तामैं जु जीव निसराई ।
तिनका नहिं जतन कराया, गलियारैं धूप डराया ॥ २५ ॥

पुनि द्रव्य कमावन काज, बहु आरंभ हिंसा साज ।
किये तिसनावश अघ भारी, करुना नहिं रंच विचारी ॥ २६ ॥

इत्यादिक पाप अनंता, हम कीने श्री भगवंता ।
संतति चिरकाल उपाई, वानी तैं कहिय न जाई ॥ २७ ॥

ताको जु उदय अब आयो, नानाविध मोहि सतायो ।
फल भुंजत जिय दुख पावैं, वचतैं कैसें करि गावै ॥ २८ ॥

तुम जानत केवलज्ञानी, दुख दूर करो शिवथानी ।
हम तो तुम शरण लही है, जिन तारन विरद सही है ॥ २९ ॥

जो गाँवपती इक होवे, सो भी दुखिया दुख खोवै ।
तुम तीन भुवन के स्वामी, दुख मेटहु अंतरजामी ॥ ३० ॥

द्रोपदिको चीर बढ़ायो, सीताप्रति कमल रचायो ।
अंजनसे किये अकामी, दुख मेट्यो अंतरजामी ॥ ३१ ॥

मेरे अवगुन न चितारो, प्रभु अपनो विरद सम्हारो ।
सब दोषरहित करि स्वामी, दुख मेटहु अंतरजामी ॥ ३२ ॥

इंद्रादिक पद नहिं चाहूँ, विषयनिमें नाहिं लुभाऊँ ।
रागादिक दोष हरीजै, परमातम निज-पद दीजै ॥ ३३ ॥

(दोहा)

दोषरहित जिनदेवजी, निजपद दीज्यो मोय ।
सब जीवन के सुख बढ़ै, आनंद मंगल होय ॥ ३४ ॥

अनुभव माणिक पारखी, 'जौहरि' आप जिनन्द ।
ये ही वर मोहि दीजिये, चरण शरन आनन्द ॥ ३५ ॥

* * *

मेरी भावना

जिसने राग-द्वेष-कामादिक जीते, सब जग जान लिया ।
सब जीवों को मोक्षमार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया ॥
बुद्ध, वीर, जिन, हरि हर, ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो ।
भक्ति भाव से प्रेरित हो, यह चित्त उसी में लीन रहो ॥ १ ॥

विषयों की आशा नहिं जिनके, साम्य-भाव धन रखते हैं ।
निज-पर के हित साधन में जो, निश-दिन तत्पर रहते हैं ॥
स्वार्थ-त्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं ।
ऐसे ज्ञानी साधु जगत के, दुःख समूह को हरते हैं ॥ २ ॥

रहे सदा सत्संग उन्हीं का, ध्यान उन्हीं का नित्य रहे ।
उन ही जैसी चर्या में यह चित्त सदा अनुरक्त रहे ॥
नहीं सताऊँ किसी जीव को, झूँठ कभी नहिं कहा करूँ ।
बने जहाँ तक इस जीवन में, औरों का उपकार करूँ ॥ ३ ॥

अहंकार का भाव न रखूँ, नहीं किसी पर क्रोध करूँ ।
देख दूसरों की बढ़ती को, कभी न ईर्ष्या भाव धरूँ ॥
रहे भावना ऐसी मेरी, सरल सत्य व्यवहार करूँ ।
पर-धन वनिता पर न लुभाऊँ, सन्तोषामृत पिया करूँ ॥ ४ ॥

मैत्री भाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे ।
दीन-दुःखी जीवों पर मेरे, उर से करुणा-स्रोत बहे ॥
दुर्जन क्रूर-कुमार्गरतों पर, क्षोभ नहीं मुझको आवे ।
साम्य-भाव रक्खूँ मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावे ॥ ५ ॥

गुणीजनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे ।
बने जहाँ तक उनकी सेवा, करके यह मन सुख पावे ॥
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं, द्रोह न मेरे उर आवे ।
गुण-ग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जावे ॥ ६ ॥